भगवत् कृपा

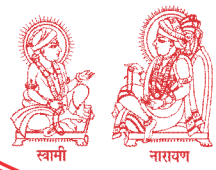

THE DIVINE GRACE

महाप्रभु स्वामिनारायण प्रणीत सनातन, सचेतन और सक्रिय गुणातीतज्ञान का अनुशीलन करने वाली मासिक सत्संगपत्रिका

वर्ष-3, अंक-5-6	सम्पादक : साधु मुकुंदजीवनदास गुरु ज्ञानजीवनदासजी	वार्षिक चन्दा-20.00
मंगलवार, 12 जून' 79	मानद सहसम्पादक: डॉ. महेन्द्र दवे-श्री विमल दवे	प्रति अंक : 2.00

कृपावतार स्वामिश्री सहजानंदजी

धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता

जब सच्चे धर्म में वहम आदि प्रवेश करतें हैं तब दो प्रकार की हानि होती है।

(1) धर्म का क्षय होता है।

(2) प्रजामानस निर्वीर्य होता है।

अतः प्रचलित धार्मिक वहम जो वास्तव में धर्म पर लगा हुआ जंग है उसको त्रिकालदृष्टि अवतार पुरुष धर्महितार्थ और लोकहितार्थ विशुद्ध कर देतें हैं।

सती का प्रथा-अधर्म

पति-पत्नी का सामंजस्य वास्तव में गृहस्थ जीवन की आधारशिला है। पति पत्नी को गौरव से देखे और पत्नी पति को गौरव से देखे और परस्पर प्रेम हो यह गृहस्थ धर्म में अनिवार्य है। कुटुंब-परिवार में इससे एक अनुकूल वातावरण पैदा होता है और इससे पूर्ण परिवार में सुख-शान्ति निवास करते हैं, अन्य रागद्वेषादिक वृत्तियाँ नष्ट होती है और दम्पती को प्रेमयुक्त परस्पर सम्मिलित धर्म प्रवृत्ति और सामाजिक प्रवृत्ति न केवल उस परिवार को किन्तु सारे समाज को हितावह है।

वर्णाश्रम धर्म का सही अर्थ और रूप जानने वाले गृहस्थाश्रम का मूल्य और महत्त्व जानते हैं, अतः उसकी नींव में पति-पत्नी के बीच की स्नेह ग्रन्थि जो आगे जाकर भक्तिग्रन्थि में परिणत होती है। उसको भली भाँति पहचानते हैं और स्त्री का पतिब्रत्य और पतिभक्ति की प्रशंसा करते हैं। यह धर्म है किन्तु इस सत्य धर्म को जंग लग गया! परंपरागत, जड, निर्जीव और अपने आपको धार्मिक कहलाने वाले व्यक्तिओं ने पति परमेश्वर की भावना का विस्तार किया। पति की मृत्यु के बाद स्त्री को उसकी चिता में साथ जल जाने को सती का परम धर्म बतलाया। यह धार्मिक विकृति थी, अतः अनाचार था, पागलपन था, मूर्खता थी। सब जानते हैं कि बंगाल के राजा राममोहन राय ने इस प्रथा को नष्ट करवाने के प्रयत्न किये और कानून से इसको नष्ट करवाया।

राजा राममोहनराय राजर्षि थे, पर हमारे महाराज ब्रह्मर्षि थे। इस प्रथा के कुत्सित रूप और इससे होती हुई धर्म विनष्टि महाराज की दीर्घदर्शिता और सूक्ष्मता ने देख ली और इन्होंने प्रेम से, लोगों को समझाकर इनके दिलों में परिवर्तन किया।

जो कार्य बंगाल में राजा राममोहन राय ने किया यह ही कार्य गुजारत में सहजानंदस्वामी ने किया।

यह ठीक है की बंगाल और बिहार में सती प्रथा जितनी उग्ररूप में थी इतनी गुजरात में नहीं थी, किन्तु कुछ एक जातियाँ-काठी-गरासिया-राजपूतों-में यह प्रथा निश्चित प्रवर्तमान थी। महाराज ने इन लोगों के समाज में प्रवेश किया, इन को प्रेम किया, इनको अपने वश में लिया और 'स्त्री-धर्म' का असली स्वरूप समझा कर यह प्रथा कितनी घृणित है यह तथ्य उनके अन्तरतम में निहित किया और निरीक्षर एवं अबला स्त्रियों पर होते अकारण अत्याचार को नष्ट कर दिया।

इन्होंने स्पष्ट किया-यह आदर्श धर्म है ही नहीं; और सत्संगी स्त्रियों को आज्ञा दी कि जब अपने पति का देहान्त हो जाय तब ऐसी स्त्रियाँ अपने पिता या श्वसुर या भाईया पुत्र के आश्रय में रहकर पतिबुद्धि से श्रीहरि की शरण ग्रहण करें।

राजा राममोहनराय ने तो केवल 'सती-प्रथा' बंद करवाई किन्तु महाराज ने ऐसी स्त्री के मानस को शून्य नहीं रखा (क्योंकि शून्य मन अनेक वृत्तिओं का शिकार बनता है)। उस मानस को भक्ति पूर्ण बना दिया औरभक्ति का आदर्श भी दे दिया, इतना ही नहीं बल्कि विधवा की वृत्तिओं को भगवान के साथ जोड़कर इनको मोक्षगामिनी भी बना दिया। शून्य मन उदास रहता है, भगवद् भक्ति पूर्ण मानस उदात्त रसरूप होता है। विधवा बाह्य रूप से न जलें इतना करके महाराज नहीं रुक गये, भीतर से यह जीवित रहे, रसमस्त रहें और परमात्म प्राप्ति से उर्ध्व बनें ऐसी व्यवस्था की। कोई समाज-सुधारक और धर्म सुधारक के बीच इतना अन्तर तो रहता ही है।

सांख्य योगी बाईओं

इतना ही करके महाराज रुक नहीं गये। विधवा को जो उचित, पवित्र, आदरपूर्ण स्थान मिलना चाहिए वह भी इन्होंने दिलवा दिया। विधवा को समाज 'रांड' और 'रांडी रांड' करके सम्बोधित करता था। महाराज ने भक्तिमय जीवन जीने वाली विधवा को सांख्य योगिनियाँ (सांख्य योगी बाईओं का उच्च नामाभिधान दिया। महाराज की आज्ञा से सद्गुरु मुक्तानन्दस्वामी ने 'सतीगीता' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में सती का नूतन अर्थग्रहण किया गया 'सती गीता' मे तीन प्रकार की पतिव्रताओं का वर्णन है और पति के मृत्यु के उपरान्त जल जाने की प्रथा को केवल निंदनीय नहीं, मोक्षविरोधिनी भी वर्णित किया गया है।

लग्न मांगल्य में अमांगल्य का निषेध

एक समय की बात है। महाराज 'सुखपुर' नामक एक ग्राम में बिराजमान थे। उनके निवास स्थान के पास के ही मकान में किसी का लग्न था। लग्न में स्वाभाविक मंगल गीत गाये जाते थे किन्तु साथ-साथ ऐसे भी गीत गाये जाते थे जो अपशब्द और गालियों से पूर्ण थे। दुर्भाग्यवशात् ये गीत महाराज की अनुयायिनी सत्संगी बहनों द्वारा गाये जाते थे। विशुद्धि के जीवन्त प्रतीक समान महाराज से यह सहन नहीं हुआ। इन्होंने तत्काल उस स्थान का ही नहीं उस ग्राम का भी त्याग किया और उदास होकर दूसरे ग्राम की ओर जाने के लिये चल पड़े। हरिभक्तों को शीघ्र ही महाराज की उदासीनता का कारण ज्ञात हो गया और महाराज का विशुद्ध वर्तन का आग्रह समझ में आ गया। प्रेम के कच्चे धागे से बंधे हुए सब हरिभक्त तुरन्त महाराज के पीछे-पीछे गये महाराज के चरणों में शिरसा वन्दन किया और वचन दिया कि अब कभी अश्लील गीत नहीं गाये जायेंगे। प्रेमवश महाराज वापस आयें और शीघ्र ही

एक आदेश पत्र लिखवाया और गुजरात-सौराष्ट्र जहां जहां सत्संगी का निवास था वहां भेज दिया।

आदेश पत्र

'.....किसी को शादी विवाह में अश्लील गीत नहीं गाना है। लग्न-प्रसंग में 'राधाविवाह' या 'रुक्मिणी विवाह' के घोल (पद) ही गाना है.....' लग्न प्रसंग में वातावरण पवित्र रहें इसके लिये महाराज ने सद्गुरु मुक्तानंदस्वामी और कविवर सद्गुरु प्रेमानंदस्वामी से लग्न प्रसंग के अनुरूप नये पद रचने की आज्ञा की। इस प्रकार महाराज ने लग्न प्रसंग की मांगल्यता को विशुद्धि प्रदान की।

मलिन उपासना का त्याग

जैसा की आगे लिखा जब धर्म को जंग चढ़ता है तब इसमें विकृतियाँ पैदा होती है और ऐसे समय में धूर्त लोग प्रजा की धर्माधता, जड़ता, निरक्षरता, भीरुता आदि का लाभ उठा कर प्रजा को लूटते है। उस समय शुद्ध धर्म के अलावा वहम का जोर था। शकुन, अपशकुन, दैवोतत्त्व आदि की मान्यताएं प्रचलित थी। अतः कल्पित मलिन देव-देवियाँ की उपासना प्रारंभ हो गई थी। ये मान्यता फैलाने वाले थे-ब्राह्मण, बाबा-बैरागी, धूर्त, ओझा, जति, फकीर आदि। किसी की बीमारी आई,किसी को आर्थिक या अन्य विपत्ति आई शीघ्र ही ये लोग वहम पैदा कर देते थे। संत्रस्त प्रजा इनका आश्रय ले लेती थी और दोराधागा, जंतर-मंतर, मूठ आदि के नाम देकर ये लोग प्रजा को लूटते थे। इससे प्रजा के द्रव्य का सत्यानाश तो होता था ही साथ-साथ वहम और भय से प्रजामानस निर्वीर्य हो जाते थे इतना ही नहीं बल्कि सद्धर्म से च्युत होकर पतन की गर्त में पड़ते थे।

जब सहजानंदस्वामी की विशुद्ध धर्मजागृति और विशुद्ध संस्कार का सूर्योदय हुआ तब इस मायावी सृष्टि का अन्धेरा स्वाभाविक नष्ट हो गया इतना ही नहीं प्रजा सद्धर्म से पुरुषार्थी और प्रबल बन गई। अभय और पवित्रता, सद्धर्म और सत्संस्कार के मन्त्र हवा में लहराने लगे। उस समय सहजानंदस्वामी ने अपने आश्रितों को जो संक्षिप्त शिक्षा पत्र लिखा था वह निश्चित दर्शनीय है।

पत्र

''.....और इस पत्र लिखने का कारण यह है कि व्यक्ति का जैसा प्रारब्ध कर्म है उसके अनुसार ही उसकी देह को सुख-दुःख प्राप्त होता है और उसके अनुसार ही जन्म-मरण होता है। जीव के इस प्रारब्ध कर्म का उल्लंघन करके रुद्र, भैरवी, भवानी आदि जो देव-देवियां हैं वे किसी भी प्रकार उसको सुख-दुःख देने के लिये और जिलाने या मारने में समर्थ नहीं है।

प्रारब्ध कर्म और काल को नष्ट करने की, मृत को जीवित करने की या जीवित को मृत करने की शक्ति केवल परमात्मा में है। अन्य देव-देवियां इस बात में असमर्थ है। अतः एक मात्र परमेश्वर का दृढ़ आश्रय ग्रहण करना। उनका ही नित्य भजन-स्मरण करना और अन्य-देव-देवियाँ का भय नहीं रखना। हम तो भगवान के भक्त है अतः शूरवीर है। अतः हरिभक्त किसी भी प्रकार के भय को चित्त में स्थान न दें।''

इसी पत्र में महाराज ने यंत्र जंत्र के बारे में जो लिखा है यह पठनीय हैः

....और यदि मंत्रौषधि से कोई भी व्यक्ति जिन्दा रह सकता तो एकाध व्यक्ति अमर दिखाई देता किन्तु ऐसा व्यक्ति संसार में दिखाई नहीं देता है।

और यदि अधिक जंत्रमंत्र किसी का किसी पर चलता तो बड़े-बड़े राजा लोग जिनके अनेक शत्रु होतें वह कैसे जीवित रह सकते। और मंत्र-जंत्र से सिद्धि प्राप्त होती तो राजा लोग लाखों रुपये का खर्च सैन्य और युद्धसामग्री पर क्यों करते? एक बड़े

मंत्रशास्त्री को नियुक्त कर देते और उनकी मंत्र-जंत्र की सिद्धि से प्रतिपक्षी को मरवाते। किन्तु ऐसा तो कहीं दिखाई नहीं पड़ता है। अतः परब्रह्म पुरुषोत्तम ऐसे समर्थ भगवान का आश्रय ग्रहण कीजिए और निर्भयता से भजन कीजिए-

इस पत्र को आप सब एकाग्र मन से पढ़िये और इस पर विचार कीजिए।''

इस प्रकार महाराज ने सबको परमेश्वर के आश्रय को और विशुद्ध धार्मिक बल को ग्रहण करना सिखाया। सब को निर्भीक बना दिया। अतः स्वामिनारायण के आश्रित काल, कर्म, माया, ओझा, डाच, जोगी, जति, भैरव, भवानी, दोरा,धागा, शकुन-अपशकुन कल्पित देव-देवियां, वीर या पीर और ऐसी किसी भी बात से आज भी डरते नहीं है। वे तो सर्वोपरि प्राप्ति के उच्च स्तर पर सदा विद्यमान, सदा मस्त रहते हैं।

महाराज ने स्वयं ग. म. 38 के वचनामृत में ऐसे सच्चे हरिभक्त के लक्षण प्रदर्शित किये हैं ये इस संदर्भ में माननीय हैः

''संसारी जीव को कोई धन या पुत्र देने वाला होगा उस में शीघ्र ही श्रद्धा हो जायेगी किन्तु भगवद् भक्तिपूर्ण जीवन को (ऐसे) जंत्र-मंत्र में, नाटक-चेटक में कभी श्रद्धा नहीं होगी। यदि हमारे सत्संगी हरिभक्त जंत्र-मंत्र में श्रद्धा रखते है तो उनको अर्धविमुख मानना। पूर्ण रूप से अनन्याश्रित भगवान के भक्त अधिक नहीं होते है। यथार्थ भगवान का भक्त था कारियाणी ग्राम में मांचो भक्त। उसने सत्संग स्वीकार किया इसके पूर्व वह मार्गी के पक्ष में था। तथापि निष्कामी वर्तमान में अन्तर नहीं हुआ। वह बालब्रह्मचारी रहा। एक बार एक किमियागर उसके वहां आ ठहरा और उसने तांबे को सुवर्ण में पलट दिया और मांचा भक्त को कहा कि आप सदाव्रती हो अतः मैं आपको बूटी समझा कर चांदी बनाना सिखाऊंगा। मांचा भक्त ने तो ली छड़ी और मार मार करके गांव बाहर कर दिया और किमियागर को कहा, ''हमें भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं है।'' बाद में माचा भक्त सत्संगी हुए और भगवान के एकान्तिक भक्त बन गये।

अंधश्रद्धा और वहम का त्याग

श्री सहजानन्दस्वामी के उपदेश का असाधारण प्रभाव पड़ने लगा था। लोक भय का त्याग करके सच्चे वीर बनने लगे और अज्ञान और तज्जन्य अंधश्रद्धा और वहम से दूर हटने लगे।

उस समय की बात है। एक हरिभक्त (स्वामिनारायण भगवान के अनन्याश्रित) बीमार पड़ा। दो-चार दिन बीमारी रही तब इनके रिश्तेदार किसी वैरागी बाबाजी को बुला लाये। हरिभक्त उस समय गहरी नींद में था। बाबाजी ने कुछ मंत्र पढ़ लिया। उस समय तो कुछ नहीं हुआ किन्तु बाद में बुखार उतर गया। तब इसके रिश्तेदारों ने कहाः ''बहोत अच्छा हुआ हम फलां फलां बाबाजी के पास गये। इन्होंने मन्त्र पढ़ा ओर उनके मन्त्र के प्रताप से आपका बुखार उतर गया।''

हरिभक्त तो था स्वामिनारायण का अनन्याश्रयी। किसी और का आश्रय इनको नहीं चाहिए था। अतः वह अन्य देव में और साधु बाबा में और इनके मंत्र में मानता ही नहीं था। अतः इन्होंने पहले भी ऐसे किसी बाबा को बुलाने को मना भी की थी। यह तो जब नींद में था, तब बाबा को रिश्तेदार बुला लाये थे और यह सब कुछ बन गया।

जब इनको यह सारी बात ज्ञात हुई तब वह गांव में उस बाबाजी के पास पहुँच गया और उससे पूछाः ''क्या आपने मेरा बुखार उतार दिया?'' बाबाजी क्यों मना करें? उनकी तो ख्याति हो रही थी। अतः इन्होंने कहा, ''हां, मैंने ही मेरे मंत्र के बल से

तुम्हारा बुखार उतार दिया है। मेरे पास तो ऐसी शक्ति है कि मैं बुखार को कहूँ कि आ जा तो आ जाता है और कहूं कि चला जा तो चला जाता है।'' महाराज के हरिभक्त ने शीघ्र कहाः ''यदि आपके प्रभाव से बुखार आता जाता हो तो आपका मंत्र वापस ले लो और मेरे बुखार को फिर से आने दो। बुखार को उतारना होगा तो मेरे समर्थ मालिक ही उतारेंगे।''

बाबाजी ने धमकी दी, बुखार तुझे खा जायेगा। हरिभक्त ने कहा, खाने दो। आपके मंत्र बल से अच्छा होने से तो मैं मर जाऊं वह ही ठीक रहेगा। मेरा बुखार वापस दे दो। मैं आपके द्वारा अच्छा नहीं होना चाहता हूँ। अच्छा हूँ तो केवल मेरे मालिक प्रभु स्वामिनारायण की ही कृपा द्वारा।''

कहते है कि उस हरिभक्त को पुनः बुखार आया किन्तु इन्होंने तब भी ओझा, बाबा, बैरागी आदि किसी में अंधश्रद्धा न रखी। वहतो यह ही सोच रहा था कि बुखार आया वह भी मालिक की कृपा, रहा वह भी मालिक की कृपा और गया वह भी मालिक की कृपा। श्रीजी महाराज ही सत्य है।

यह एक परम निष्ठा और अनन्याश्रितता का उदाहरण है। इसका फलितार्थ यह है कि हरि की और वहम की एक साथ भक्ति नहीं करनी चाहिए। श्री हरि में ही दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए। शेष सब अंध श्रद्धा है। वहमों की नागजूड़ से मुक्त होना हो तो जैसे पतिव्रता सतीस्त्री संपूर्ण समर्पित भाव से पति को निवेदित होती है वैसे हमे भी श्रीजी महाराज में-उनमें ही दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए। एकातिंक श्रद्धा बिना समर्पण पूर्ण नहीं होता है और जहां पूर्ण समर्पण न हो वहां भक्ति नहीं है। उस हरिभक्त की श्रद्धा जैसी श्रद्धा सब की हो जायेगी तब कृपावतार की कृपा सभी पर निश्चित है। यह इनका वचन है।

सहजानंदस्वामी और वर्णाश्रम धर्म

उस जमाने में जब ज्ञाति-जाति के बन्धन जब अत्यंत दृढ़ थे तब महाराज ने सनातन धर्म की वर्णाश्रम मर्यादा का खण्डन किये बिना सब जातियाँ (काठी, कोली, कणबी, मोची, दरजी, बढ़ई, भंगी आदि क्षुद्र मानी जाती जातियाँ भी) को और खोजा, पारसी, मुसलमान आदि अन्य धर्माश्रयी व्यक्तिओं को शुद्ध ब्राह्मण के समान रहन सहन सिखा कर सुसंस्कृत करनें का निर्णय किया और करके दिखाया। महाराज ने सनातन धर्म और युगानुसार परिवर्तित होने वाले वर्णाश्रम धर्म का विवेक किया। मनुष्य के लिये अभय, सत्य, ब्रह्मचर्य, प्रेम, क्षमा, दया आदि सनातन धर्म है। वर्णाश्रम धर्म सुन्दर किन्तु तत्काल के अनुरूप एक वैयक्तिक सामाजिक व्यवस्था है और वह हमारे धर्मशास्त्रों ने सद्धर्म के पालन के लिये बनाया था। ऊपर की व्यवस्था देशकालानुसार बदलेगी-बदलनी भी चाहिए किन्तु भीतर का असल-मूल धर्म नित्य अपरिवर्तित रहता है। कभी कभी इसका अक्षुण्ण रखने के लिये भी व्यवस्था को बदलनी पड़ती है। संक्षेप में व्यवस्था एक Frame है, व्यवस्था ही है-धर्म नहीं है। अतः वर्णाश्रम धर्म के पालन से मोक्ष नहीं मिलता, सनातन धर्म से ही मिलता है। महाराज वर्णाश्रम धर्म का पालन आवश्यक मानते थे। समग्र धर्माचरण उसका स्थान कहां और कितना है इस बात का भी वे जानते थे। अतः स्पष्ट कहते थे कि परमेश्वर की इच्छा से और लोककल्याणार्थ मनु आदि ने वर्णाश्रम की स्थापना की है अतः उसके पालन में परमेश्वर की प्रसन्नता है और उसके द्वारा अन्तःकरण निर्मल होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्ण और आश्रम का अभिमान करना और अपने आप को श्रेष्ठ मानकर दूसरे वर्ग के मनुष्य का तिरस्कार करना। यह साधुता नहीं है। महाराज ने यहां तक कहा है जो ब्रह्मनिष्ठ पुरुष देहाभिमान से रहित हो वह ही वर्णाश्रम धर्म का बन्धन तोड़ सकता है। कितनी स्पष्ट गहरी और विवेकपूर्ण विचारधारा !

क्रमशः

गुरुपूर्णिमा महोत्सव

मेरी बंसी के दो बोल तू बजा दे,
मेरी वीणा की वाणी तू जगा दे।

भारत की सांस्कृतिक परम्परा में गुरुपूर्णिमा का दिन एक महान दिन माना गया है। आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा को सहस्त्रों वर्षों से गुरुपूर्णिमा कहा जाता है। 'साधु चलता भला' इस उक्ति के अनुसार भारत में आठ मास साधु भ्रमण करते हैं और आषाढ़ शुक्ल एकादशी से साधु किसी एक स्थान पर चातुर्मास के लिये ठहर जाता है और शिष्यों को विद्याध्ययन और आम जनता को सत्संग का लाभ देता है। भारत में विद्याध्ययन का नूतन सत्र पूर्वपरम्परानुसार चार दिन के विश्राम बाद गुरुपूर्णिमा से होता है।

इस साल गुरुपूर्णिमा 9 जुलाई के रोज है। अशोकविहार स्थित हमारे मन्दिर में सत्संगी सज्जनों की सुविधा के लिये हम एकदिन पूर्व अर्थात् रविवार 8 जुलाई के दिन सुबह 9.30 से 11.30 'गुरुपूर्णिमा' महोत्सव मनायेंगे। इससे एकलाभ भी है-दूसरे दिन से हम चातुर्मास में अपनी इच्छानुसार, शक्ति अनुसार किसी ने किसी व्रत में लग जा सके। ता. 8 के रोज आप सब को निमन्त्रण है कि अशोकविहार स्थित मन्दिर में आने का कष्ट करें और प.पू. काकाजी एवं प.पू. हरिप्रसादस्वामी द्वारा प्राप्त प्रसाद ग्रहण करें और अपने जीवनपथ को साधना के मार्ग की ओर अग्रसरित करें।

गुरुपूर्णिमा के संदर्भ में भारत के महान सन्यासी स्वामी रामतीर्थ जी द्वारा कथित एक रूपक कथा को निम्न उदरित करते हैं और इस कथा के अर्थ को समझाते हैं।

कथा इस प्रकार है-

किसी मन्दिर में एक बहुमूल्य वाद्य था। उसके स्वर असाधारण मधुर थे। मन्दिर का चौकीदार बहुत सतर्क था। उसने बाजे को बहुत संभाल कर रखा था और इस बात की खबरदारी रखता था कि कोई उस तक जाने न पाये।

एक दिन एक फटे वस्त्रों वाला अजनबी वहां पहुँचा और इस वाद्य-यन्त्र का उपयोग करने के लिए आग्रह करने लगा। चौकीदार ने तिरस्कार पूर्वक उसे प्रांगण से बाहर खदेड़ दिया।

अजनवी अवसर ढूंढता रहा और रोज ही उधर आता रहा। एक दिन दाव लगा। वह बाजे तक पहुँचा और तन्मयतापूर्वक बजाने लगा। इस दिन का वादन इतना मधुर था कि सुनने वाले सभी तरंगित और भाव-विभोर हो उठे। वादन बन्द हुआ तो श्रोताओं ने पुलकित होकर वादक से पूछाः आप है कौन? कहां से आये है? और वादन कला में इतने प्रवीण कैसे है?''

अजनबी की आंखे बरस पड़ी। वह बोला-मैं ही इस अलौकिक बाजे का निर्माता हूँ। मैंने ही साधपूर्वक इसे बनाया था और सोचा था मन्दिर में बजाकर दर्शकों को रस पिलाया करूँगा। यह स्थापना के दिन से लेकर आज तक वैसा अवसर ही न मिला। दूसरे ही उस पर भोंड़े राग गाते रहे।'

जीवन मन्दिर का भाव सम्वेदनाओं का वाद्य बजाने का अवसर यदि उसके निर्माता को मिल सके तो इस पुण्य क्षेत्र में अमृतमयी स्वर लहरी गूंज उठे। वादक को अपना वाद्य बजाने का अवसर न मिलने देने वाला चौकीदार बुद्धिमान होते हुए भी अनाड़ीपन का ही परिचय देता है।

इस कहानी में स्पष्ट है कि जो चौकीदार है वह हमारी बुद्धि है। पुण्यक्षेत्र है हमारा जीवन और वाद्य है हमारी भीतर जो भावसंवेदनाएं है वह। बुद्धि जड़ है अतः वह केवल वाद्य की देखभाल कर सकती है किन्तु वाद्य तरंगित किससे हो और कौन इस वाद्य से सुमधुर सुरावलि निर्माण कर सकते है उसको पहचान नहीं सकती है। अतः वाद्य का निर्माता भी जब आता है तब उनको मना कर देती है। परिणाम

रूप पुण्यक्षेत्र (जीवन) संपूर्णतया पुण्यक्षेत्र नहीं बन सकता है। कभी कभी तो बुद्धि इसको पापक्षेत्र भी बना देती है।

यह मार्मिक कहानी 'गुरुपूर्णिमा' के अवसर पर इसलिये स्मरण में आई के वह हमें सच्चे जीवन की राह दिखाती है। यह जो मानव जीवन मिला है इसमें हमें क्या प्राप्त करना है? व्रत, जप, तप, स्वाध्याय, यज्ञ, दान आदि द्वारा भी हमें क्या प्राप्त करना है? इस जीवन को पुण्यक्षेत्र बनाना कैसे बन सकता है? यदि हमारी भावसंवेदनाओं को उनका निर्माता ही बनाएं। बाधा रूप कौन है? हमारे मन, बद्धि, चित्त, अहंकार ! तो चलो आज हम प्रतिज्ञा ले कि हमारे जीवन में हम हमारी कुंठित बुद्धि, हमारा संसार ग्रस्त मन, हमारा जागतिक चित्त और हमारे अहंकार इन सबका कहना मानना छोड़ दे। इन सबको हम हमारे भगवान कहो, हमारे परम गुरु कहो भगवान स्वामिनारायण के चरण कमलों में समर्पित कर दें। निर्णय करें कि कल से बुद्धि का चौकीदार चुप रहेंगा, कल से मन निवेदित हो जायगा, कल से चित्त परमात्मय बन जायेगा, कल से हमारे अहम् की सम्पूर्ण विनष्टि हो जायेगी। वह महान बजवैये के हाथ में हमारी जीवनवीणा दे देंगे जिससे उनकी कोमल अंगुलि हमारे हृदयांतर का स्पर्श करके मधुर संगीत छेडे। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के आवरण छोड़ कर हम खुल्ले हो जाये-भगवान की समक्ष और सम्पूर्ण समर्पण के भाव से वह महान कलाकार को हमारे जीवनवाद्य को वह जिस प्रकार छेड़ना चाहे उस प्रकार छेड़ने की प्रार्थना करें।

'गुरुपूर्णिमा' के दिन आप लोग गुरु को अन्न, वस्त्र धन इत्यादि इत्यादि देते हैं किन्तु यह बात अच्छी होते हुए भी मर्यादित है। देना है तो पूरा जीवन ही देना चाहिए। सन्तों ने बार बार लिखा है ऐसा अवसर बार बार नहीं मिलता है। जीवन की सार्थकता कहां है? प्राप्ति में? नहीं, त्याग में। चलो आज हम सब कुछ वह परम गुरु गुणातीत के चरणों में अर्पित कर धन्य बनें। फिर देखिए बीनाकार हमारे चिदाकाश में कैसी-स्वर्धुनी बजाकर हमें कैसे परमानन्दमय बनाते है ! स्वामिनारायण भगवान की महती कृपा है। इन्होंने वचन दिया है जीवन और मरण में साथ देने का। प.पू. काकाजी और परम पूज्य स्वामिजी का प्रसाद ग्रहण कर उनकी नित्य सन्निधि मान कर भगवान को ही सब कुछ समर्पित करना यह ही है गुरुपूर्णिमा का रहस्य !

The Creative Surrnder

Jnan Yoga in its real essence becomes Bhakit yoga in the end and them whatever thought word, action or work originates is actually form the Divine. This is then real Nishkama karma or desireless action or Anasakta yoga. Mahatma Gandhji, after the study of Gita for 38 years summed it up in one word as 'Nishkama karma yoga.'

The knowledge of self and the supreme power with its working is the Jnan yoga. This is the knowledge of the supramental consciousness and the working of the Divine plan of the Divine master through us as His instrument i.e. offering of all the action for the Divine purely by the Divine through us. Through the Divine master he is the principle of the reconciliation of life, joy and works of the Divine actor. In constant and continuous remembrances of the Divine Master, one feels His presence in the heart. The individual Jivatma of the human being who has the indomitable faith in the existance of the Adyshakti Akshar Brahman totally transcends the vasana and egosense by His grace only. He looks within and

Regd. No. D (D) 655

introspects intensly as a witnessing spirit or as an impartial observer of the inner working of the inner instrument-that is, of mind, chitt, intellect, pran and ego sense, As a result, the witnessing spirit gets the vision as an impartial observer, seeing within thimself, also seeing the external facts as they are, that is, of situation and circumstances, objects and at the same time to the invisible power of Shakti and His working. Thus his vision then becomes Divine-that is, now his conscious or chetna or Javatma sees trio into one and one into trio and he identifies himself with the Divine power shakti of Akshar Brahman with metnal unity or oneness known as Advaita the unity in diversity and diversity in unity and his chetna into trancidental unity with this supreme power or shakti or Akshar Brahman. He now sees God within himself, experiences his Satchidanand Swaroop, and the universe as Divine. Also in all the objects and activities his cosmic self enjoys the divine cosmic play and he joyfully and willingly cooperates without any complexity or confusion or conflict in the divine working.

But hear, there may be one missing point-that is, this sort or divine vision is only possible, if he really surrenders to the Master. That sort of surrendering results into self surrender which must be total, complete and unconditional to the Master, and then he attains the divine unity. The transcedental unity with the Master is realised only after creative surrender. Then all his movements and actions are prompted by the divine master and the whole movement of life becomes creative and constructive. One has here to realise his own self and be brahmaroop. Then can have equivalence with the master as Sachchidanand Brahm Swaroop. He also shares with the fellowbeings in cooperative brother tood as friendliness and enjoys together and attains the real happiness, peace, tranquility, power and bliss of the divine in this life and in this world here and after. The crude nature and the life with its inner instrument are assumes divine qualites as spiritual equality, fearlessness, humbleness with eternal bliss and at the same time spreads the message of love, compassion in sharing with others known as 'Suhridhhav'. He has thus entry into the timeless eternity, totally free from envity, jealousy, pride desire and ego-sense as emancipated soul or vidhehimukta. He is really Brahma Swaroop or Ekantik Satpurusha and can also generate the divine waves or vibrations as 'Shakti pat' to those who come in his contact. He is the real Tantric Master and one can also associate with him for spiritual development the reessence of this evolution depends on the creative surrender. It is not submission or mental surrender but total self surrender just for pleasing God and his deveotees at every instant and moment.

May Lord swaminarayana and Gurdeo yogiji Maharaj inspire all sincere aspirants or sadhakas for such total transformation to serve Him and His fellowmen on the fundamental principle of pure love, compassion and friendliness.

साधु मुकुंदजीवनदास गुरु ज्ञानजीवनदास जी द्वारा योगी डिवाईन सोसाईटी,
ए-103, अशोक विहार-III, दिल्ली-110052 फोनः 518838
मुद्रण स्थानः ठक्कर प्रिंटिंग प्रेस, 2588, बस्ती पंजाबियान, सब्जी मण्डी, दिल्ली-110077